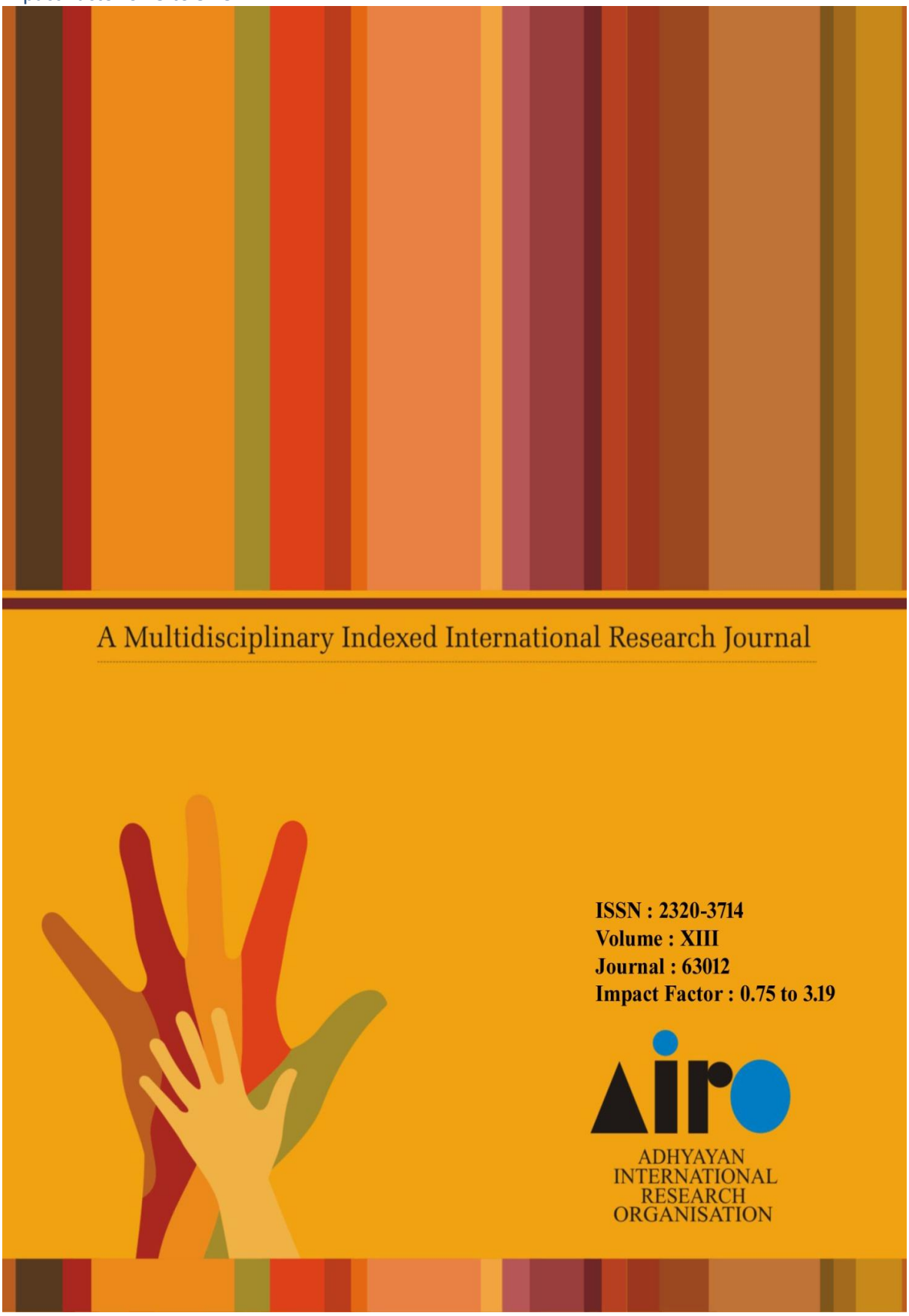
A Multidisciplinary Indexed International Research Journal
ISSN : 2320-3714
Volume : XIII
Journal : 63012
Impact Factor : 0.75 to 3.19
ADHYAYAN
INTERNATIONAL
RESEARCH
ORGANISATION

Airo International Research Journal

Volume XIII, ISSN: 2320-3714
December, 2017
Impact Factor 0.75 to 3.19

UGC Approval Number 63012

स्वतन्त्रता पूर्व वर्तो नारी पात्रों के मन और मस्तिष्क का द्वन्द्व

Dr. Krishna Kumar Thakur

Asst. Professor Hindi Century Cement College Baikunth (C.G.) Dist. Raipur

Declaration of Author: I hereby declare that the content of this research paper has been truly made by me including the title of the research paper/research article, and no serial sequence of any sentence has been copied through internet or any other source except references or some unavoidable essential or technical terms. In case of finding any patent or copy right content of any source or other author in my paper/article, I shall always be responsible for further clarification or any legal issues. For sole right content of different author or different source, which was unintentionally or intentionally used in this research paper shall immediately be removed from this journal and I shall be accountable for any further legal issues, and there will be no responsibility of Journal in any matter. If anyone has some issue related to the content of this research paper's copied or plagiarism content he/she may contact on my above mentioned email ID.

प्रस्तावनाः

साहित्य का संबल निर्विवादतः समाज ही है और सामाजिक यथार्थ से जुड़ा साहित्य अत्यंत प्रामाणिक, प्रसंगिक और सजीव होता है। ऐसे साहित्य सर्जन के लिए साहित्यकार में पूर्णतः सामाजिक और साहित्यक प्रतिबध्दतायें अवश्य होनी चाहिये। कहना न होगा कि साहित्यकार का कर्तव्य मात्र सामाजिक चित्रण तक ही सीमित नहीं है, प्रस्युत उसे अपनी लेखनी के द्वारा समाज का समुचित मार्ग–निर्देशित ही करना है। यही साहित्यकार की सामाजिक प्रतिबद्धता है। परिवर्तन एक अनिवार्य प्राकृतिक नियन होने के कारण वह समाज में भी घटित होता रहता है, जो सामाजिकों को विचाराभिव्यक्ति, जीवनशैली, परम्पराओं, नैतिकमूल्यों आदि के माध्यम प्रकट होता रहता है। अतः इन सब के प्रति साहित्यकार की दृष्टि सजग और सतर्क होनी चाहिए। ऐसा होने पर ही एक साहित्यकार स्वंय भटक जाने अथवा पाठक वर्ग को भटकाने के खतरे से दूर रह सकता है।

जिस प्रकार परिवर्तन को एक अनिवार्य नियम माना गया है, उसी प्रकार संघर्ष भी जो अपने किसी–न–किसी रूप में जीवन की आरम्भिक बिन्दु से लेकर अब तक मानव के साथ जुड़ा चला आ रहा है। ध्यातव्य है कि हम जिसे परिवर्तन की संज्ञा दे रहे हैं, वह अधिकांश संदर्भों में उसी संघर्ष के पर्यवसान के रूप में प्रकट होता आया है। आरम्भ में अपने अस्तित्व को स्थायी बनाने के लिए ''व्यक्ति'' प्रकृति से संघर्षरत रहा, तो आज उसे अपनी उसी अस्मिता के लिए कभी अपनी ही जाति से, तो कभी समाज से. . . और कभी स्वंय से संघर्ष करना पड़ रहा है। रूप आधार पर बाह्य और अंतः में विभाजित यह संघर्ष इतनी सामाजिक व्याप्ति प्राप्त कर चुका है कि संप्रति कदाचित कोई ऐसा सामाजिक प्राणि हो, जो कि प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष किसी–न–किसी रूप में इस संघर्ष में पड़ा हुआ न हो अतः आज संघर्ष भी जीवन की कतिपथ अनिवार्य स्थितियों में एक हो गया है। जाति, वर्ग, स्तर, स्थिति आदि के आधार पर संघर्ष के भेदोपभेद का होना नितांत अनिवार्य है। समाज की निम्नतम इकाइयों के रूप में जहाँ पुरूष और नारी में आपसी संघर्ष होता रहता है, वहीं वैथ्यक्तिक स्तर पर इन में अंतः

संघर्ष की स्थिति भी उत्पन्न होती है। यहाँ हमारा विवेच्य विषय नारी के मन और मस्तिष्क से संबंद्ध अंतः संघर्ष है, जिसका चित्रण स्वतंत्रता पूर्ववर्तो कतिपथ साहित्यक विधाओं में पाया जाता है।

मन और मस्तिष्क की व्याख्या पूर्व अनुखण्ड में कर दी गयी है, अतः उसी पुनरावृत्ती यहाँ समोचीन नहीं है। मन अथवा ह्रदय नारी की सहज संवेदनशील सौम्य–प्रकृति का प्रतीक है, जब कि मस्तिष्क तर्काश्रित बुद्धिवादिता का प्रतीक है। ह्रदय तत्व के प्रतीक नारी में जब बुद्धिवादी प्रवृत्ती के पनपने की अनिवार्य स्थिति उत्पन्न होती है, तब उस नारी में इन प्रतिद्वनद्वी प्रवृत्तियों ह्रदय और मस्तिष्क में संघर्ष छिड़ जाना भी अनिवार्य हो जाता है। नारी–चेतना और उसकी विद्रोही भावनायें जितने व्यापक स्तर पर स्वतंत्रता पूर्ववर्ती हिन्दी साहित्य की विभिन्न विधाओं में वर्णित हुई है, उसकी तुलना में नारी का यह उक्त मन और मस्तिष्क का द्वन्द्व कम ही चित्रित हुआ है। इसका एक प्रमुख कारण नारी की यह अंतर्द्वन्द्व की स्थिति अकस्मात उत्पन्न नहीं होती है, प्रत्युत प्रथमतः नारी में अपनी वास्तविक दयनीय और शोषित स्थिति की समझ उत्पन्न होती है, जो नारी में उसके सामाजिक स्तर के आधार पर अनेक रूपों में चेतना का संचार कराती है। नारी की यही अंतश्चेतना अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए बाह्य रूप में अभिव्यक्ति पाती है, जो कहीं क्रोधपूर्ण विद्रोह का रूप धारण कर सामाजिक और नैतिक परम्पराओं के उल्लंघन के रूप में अभिव्यक्त होती है, तो कहीं अनर्गल प्रलाप का रूप धारण करती है और कभी समझौता मौन आत्म–पीड़न अथवा आत्मघात में प्रर्यवसित होती है। नारी के मन और मस्तिष्क के द्वन्द्व की स्थिति, उक्त नारी चेतना के विद्रोहपूर्ण अभिव्यक्ति के बाद और कतिपथ संदर्भों में आत्मघात से पूर्वकी स्थिति है, कयोंकि नारी जब अपने प्रति किये जाने वाले शोषण और अत्याचार का विरोध करने के लिए जिस बुद्धिवादिता का संबल ग्रहण करती है, उस में भी उसे पूर्ण तुष्टी और शान्ति प्राप्त नहीं होती है। इसका मुख्य कारण बुद्धिवादिता नारी की सहज–प्रवृत्ती के विरोध में पड़ती है तथा अर्थसमुपार्जन, आत्म केन्द्रीयता और प्रचलित नैतिक–मूल्यों की अपेक्षा इस बुद्धिवादिता के प्रमुख तत्व है। इस तथ्य के आधार पर कह सकते हैं कि बुद्धिवादिता के परिवेश में रहने के लिए नारी को विवश किया जाना और पश्चिमी सभ्यता के प्रभाव के कारण हर स्तर पर पुरूष के साथ समानता प्राप्त करने की नारी की ललक ही उसके अन्तर्द्वन्द्व के प्रमुख कारण प्रतीत होते हैं।

साहित्य की समीक्षा:

स्वतंत्रता पूर्ववर्ती सामाजिक परिवेश में नारी की तत्कालीन दयनीय दशा को सुधारने के प्रति ही समाज सुधारकों और साहित्यकारों की दृष्टि लगी रही, जो पूर्णतः प्रासंगिक भी थी। इसलिए बाल–विवाह, अनमेल विवाह, अंतर्जातीय

विवाह, दहेजप्रथा, विधवा–पुनर्विवाह, स्त्री शिक्षा, नारी की आर्थिक स्वावलम्बिता जैसे विषयों को लेकर साहित्यकारों ने विविध विधाओं के केन्द्र में नारी जीवन से संबंद्ध समस्याओं का विश्लेषण और परिष्कार अन्वेषण के उपक्रम किये। ये विषय समकालीन परिस्थितियों के परिवेश में अत्यंत जटिल और विषद होने के कारण अधिकांश साहित्यकार इन्हीं स्थिति विशेषों की व्याख्या विश्लेषण में व्यस्त रहे इसीलिए उन्हें नारी के गहन–अंतस में झाँकने और वहाँ घटित उक्त अंतर्द्वन्द्व को देखने, विश्लेषित करने और तथ्योदघाटन करने के बहुत कम अवसर प्राप्त हुए। इन्हीं कारणों से प्रमुखतः नारी के मन और मस्तिष्क का द्वन्द्व स्वतंत्रता पूर्ववर्ती साहित्यक विधाओं में विस्तृति प्राप्त नहीं कर सका, परन्तु इस अर्न्तद्वन्द्व वर्णन संबंधी बीजवपन की क्रिया आरम्भ हो चुकी थी। अतः निम्न लिखित पंक्तियों में स्वतंत्रता पूर्ववर्ती हिन्दी साहित्य के उपन्यास, कहानी, नाटक आदि विधाओं में नारी के इस अंतर्द्वन्द्व के अन्वेशण का प्रयास किया गया है।

उपन्यास–नारी के मन और मस्तिष्क का द्वन्द्व :

सतत् परिवर्तनशील समय की निर्बाध धारा में प्रवाहित व्यक्ति के अस्तित्व की रक्षा संबंधी प्रयत्नों विविध स्थिति विशेषों में उसकी मानसिकता और प्रतिक्रियाओं, उसके सुख–दुःख, स्वार्थ और त्याग से संबंद्ध जीवन चित्रों को प्रभावपूर्णता के साथ उपस्थित करने वाली साहित्य–विधा '' उपन्यास '' ही है। जीवन को उसकी संपूग्रता के साथ ग्रहण करने और अभिव्यंजित करने की शक्ति उपन्यास में है, ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से लेकर मनोवैज्ञानिक धरातल पर तक प्रणीत होकर उपन्यास ने मानव–जीवन की बहु–आयामिता को अनायास ही सिद्ध कर दिया। समाज को अपने सम–सामयिक परिवेश में रूपायित करने के संदर्भ में उपन्यास अन्य विधाओं की तुलना में कहीं अधिक प्रभावपूर्ण और आगे रहा। जीवन के संपूर्ण चित्र को उपस्थित करने के प्रयत्न में आरम्भिक हिन्दी उपन्यास ने बृहदाकृती ग्रहण की, परन्तु संप्रति उपन्यास इतने लघुत्तम रूप में प्रणीत हो रहे हैं कि कुछ दिनों से लेकर कुछ घण्टों तक में घटित घटनाओं के दायरे में जीवन की संपूर्णता को परिभाषित और विश्लेषित करने के उपक्रम लक्षित हो रहे हैं। पाठकों की परिवर्तित मानसिकता जीवन में बढ़ती व्यस्तता और संघर्ष की स्थिति, लेखकीय प्रतिबद्धता, साहित्य जगत में बढ़ती व्यापारिक प्रतिद्वन्द्विता ऐसे कतिपथ अंश है, जिनके प्रभाव से उपन्यास के कथ्य और शिल्प में रेखांकन योग्य परिवर्तन घटित हुए। जीवन की संपूर्णता और यथार्तता के अतिनिकट रहने के कारण उपन्यास ने व्यक्ति के बाह्य और अंतर्द्वन्द्व को पूरी सजीवता के साथ साकार किया है। जीवन की अपर संज्ञा संघर्ष होने के कारण उसका चित्रण करते समय उपन्यासकारों ने बड़ी सतर्कता से काम लिखा, क्योंकि एक व्यक्ति से दूसरे तक आते–आते–संघर्ष के स्थिति–विशेष,

प्रतिक्रियायें और पर्यवसार नितांत भिन्न हो जाते हैं। इन संघर्ष विशेषों में भी हमारा आलोच्य विषय इस अनुखण्ड में स्वतंत्रता पूर्ववर्ती उपन्यासों के नारी पात्रों के मन और मस्तिष्क के द्वन्द्व से संबंद्ध है। एक व्यक्ति विशेष का किसी वर्ग, जाति, धर्म, सामाजिक दुराचार, आर्थिक शोषण के संदर्भ में जिस प्रकार संघर्षरत होना पड़ा और जिसका वर्णन स्वतंत्रता पूर्ववर्ती उपन्यास साहित्य में हुआ, उसी विस्तृति के साथ नारी के मन और मस्तिष्क के द्वन्द्व का चित्रण नहीं हुआ। इसका मुख्य कारण यह माना जा सकता है कि प्रेमचन्द पूर्व प्रणीत सभी तिलस्मी और अध्यारी उपन्यासों को ताक पर रख दिया जाय, तो बचे हुए अधिकांश उपन्यासों में लेखकों का उद्वेश्य भारतीय परम्पराओं के अनुरूप नारी को पातिव्रत्य धर्म और सतीत्व रक्षा की शिक्षा देना ही प्रतीत होता है। अतः उन्हें नारी के अंतस की गहनता को मापने का न अवसर मिला न यह तथ्य उन्हें सूझा और न ही उन्हें यह आवश्यक महसूस हुआ। प्रेमचन्द और उनके समकालीन उपन्यासकार नारी जीवन की पारिवारिक, सामाजिक और आर्थिक समस्याओं को सुलझाने में व्यस्त रहे। इसीलिए प्रेमचन्द यगीन उपन्यासों में नारी मानसिकता से संबंद्ध अंतर्द्वन्द्व और विभिन्न प्रतिक्रियाओं के सांकेतिक चित्र मात्र प्रस्तुत हुए हैं। मानवता के अमर साहित्यकार प्रेमचन्द में अपार अनुभव, सूक्ष्मदर्शिताशिक्ति, अद्वितीय प्रतिभा तथा हृदय भेदी अंतर्दृष्टी थी किन्तु मनोवैज्ञानिक विचारधाराओं से अपरिचित होने तथा यथार्थ और आदर्श को लेकर चलने के कारण वे अपने उपन्यासों के समस्त रूप से मनोवैज्ञानिक तथ्यों का समावेश नहीं कर पाये। फिर भी इतना उन्होंने अनजान में किया वह हिन्दी के मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की पृष्ठभूमि के लिए पर्याप्त है। इसी धरातल पर आगे चलकर जैनेन्द्र, अज्ञेय, भगवतीचरण वर्मा, इलाचन्द्र जोशी, हजारीप्रसाद द्ववेदी, धर्मवीर भारती, मोहन राकेश, उषा प्रियवंदा, शिवानी, मन्नू भंडारी जैसे अनेक लेखक अपनी कृतियों में नारी मानसिकता की जटिलताओं और उसके मन एवं मस्तिष्क के द्वन्द्व को साकार करने में प्रयत्नशील रहे। इस अनुखण्ड में स्वतंत्रता पूर्ववर्ती उपन्यासों में प्राप्त नारी के उक्त अंतर्द्वन्द्व के अन्वेषण और विश्लेषण का प्रयत्न किया गया है।

कहानी :– नारी के मन और मस्तिष्क का द्वन्द्व

ग्रामीण अंचलों से लेकर महानगरीय परिवेषों तक के सामाजिक जीवन में बढ़ती व्यस्तता और धीरे–धीरे घटते पाठकीय संयम को दृष्टि में रखकर विचार किया जाय, तो अन्य साहित्यक विधाओं की अपेक्षा कहानी ही संप्रति–कालीन मानसिकता के अनुकूल पड़ती है। जीवन के खंडचित्र मात्र को प्रस्तुत करने पर भी जीवन–विष्लेषण के संदर्भों में कहानी के प्रभावपूर्ण और महत्वपूर्ण योगदान को कदापि नकारा नहीं जा सकता है। आधुनिक सभ्यता के परिवेष में किसी भी व्यक्तित्व के विष्लेषणार्थ अमुक व्यक्ति के

संपूर्ण जीवन को लेने की अपेक्षा, उसके किसी एक जीवन–खण्ड को अथवा व्यक्तित्व के टुकड़े को लेने और उसी के आधार पर प्रामाणिक तथ्यों को प्रस्तुत करने की गहनतम रूचि वर्तमान कहानी लेखकों में स्पष्टतः परिलक्षित होती है इसलिए कहा जा सकता है कि साहित्य में आज '' खण्ड '' या ''टुकड़े '' का उतना ही महत्व है, जितना पहले '' संपूर्ण '' का रहा करता था इसीलिए व्यक्ति की एक–एक भंगिमा, एक–एक प्रतिक्रिया, एक–एक भावना तक कहानी के वस्तु पक्ष को पूर्ण शान्ति प्रदान करने की क्षमता रखती है।

प्रेमचंद के समकालीन होते हुए जयषंकर प्रसाद ने कहानी साहित्य में अपना एक विलक्षण एवं अनुपमेय स्थान बनाया। भारत के गौरवमय अतीत, उत्कृष्ट संस्कृति, नारी का आप्रतिम प्रेम और अद्भुत त्याग भावना, राष्ट्रीय स्वाधीनता, व्यक्ति के बाह्य और अंतस् का संघर्ष जैसे विषयों को प्रसाद ने अपने विपुल कहानी साहित्य को वस्तु बनायी। उन्होंने अपनी कहानियों में नारी के आदर्षपूर्ण चित्र को अंकित करने का पूर्ण प्रयास किया। कहानी साहित्य के संदर्भ में प्रसाद की नारी भावना पर विचार व्यक्त करते हुए डॉ. इन्द्रनाथ मदान का कहना है कि '' नारी के व्यक्तित्व में त्याग–भाव, श्रमाषीलता, भावुकता, मादकता तथा सुन्दरता का संगम है जो इनके लगभग सभी नारी पात्रों में लक्षित होता है।''[2] प्रसाद को अत्यंत प्रसिद्ध महानियों में '' आकाषदीप '', ''पुरस्कार '', '' शालवती '' आदि ऐसी कहानियाँ हैं, जिनमें नारी का अंतदृढ़ स्पष्टतः परिलक्षित होता है। इस संदर्भ में डॉ. नगेन्द्र का कथन उल्लेखनीय है, यथा '' आकाषदीप '' की चम्पा, '' देवरथ '' की सुमाता, '' पुरस्कार '' की मधूलिका आदि प्रसाद की अनुपम नारी सृष्टि हैं। नियति और समाज से एक–साथ संघर्षरत नारी का ऐसा चित्रण अन्यत्र दुर्लभ है।''[1]

'' आकाषदीप '' में लेखक ने जहाँ मस्तिष्क पर हृदय के विजय को सिद्ध किया है, वहीं कहानी '' पुरस्कार '' में मधूलिका के माध्यम कुछ देर के लिए भावुकता पर तर्क का विजय दिखाया गया है। मधूलिका, अरूण से प्रेम करती है, जो राज–षासन–तंत्र के विरूद्ध विप्लव करना चाहता है।

अरूण द्वारा बताए गए क्रांति के कारणों और अरूण के प्रेम से अभिभूत होकर मधूलिका भी विप्लव में योगदान देने के लिए अद्यत हो जाती है, परन्तु उसकी तर्कबुद्धि उसे अपने कर्तव्यों के प्रति सचेत करती है। इस प्रकार मधूलिका में प्रेम और कर्तव्य का द्वन्द्व आरम्भ हो जाता है लेकिन इस संदर्भ में लेखक व्यष्टि की अपेक्षा समिष्टि के कल्याण का समर्थन करते हुए मधूलिका की कर्तव्य परायणता को विजयी घोषित कर देते हैं। अरूण कैद कर लिया जाता है और पुरस्कारस्वरूप अपने लिए भी मृत्युछंड को माँगकर मधूलिका प्रेम के प्रति अपनी अप्रतिम निष्ठा दर्षाती है। इसप्रकार यहाँ

द्वन्द्व का पर्यवसान त्याग भावना में होता है।

नारी जीवन में मातृत्व की स्थिति अत्यंत मधुर और अनिर्वचनीय होती है, जिसकी प्राप्ति में ही नारी स्वंय को धन्य समझती है, और इस नैसर्गिक वरदान से वंचित हो जाने की स्थिति में उसका कूंठित अथवा कठोर हो जाना भी सहज प्रतिक्रियाएँ हैं। इतना ही नहीं, जब इस दुर्भाग्यपूर्ण वंध्यापन से अभिषप्ता के आस–पास कोई माता और उसके बड़े ही प्यारे–प्यारे बच्चे हों, तो उस मातृत्वहीना की मानसिकता अप्रत्याषित प्रतिक्रियाओं को जन्म देती है। मातृत्व की दषा से वंचिता रामेष्वरी में नारी सहज कोमल हृदय की कोई कमी नहीं है। लेखक के शब्दों में – '' यद्यपि रामेष्वरी को माता बनने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ था, तथापि उनका हृदय एक माता का हृदय बनने की पूरी योग्यता रखता था। उनके हृदय में वे गुण विद्यमान तथा अंतर्निहित थे, जो एक माता के हृदय में होते हैं, परन्तु उनका विकास नहीं हुआ था।

उनका हृदय उस भूमि की तरह था जिसमें बीज तो पड़ा हुआ है, पर उसको सींचकर और इस प्रकार बीज को प्रस्फुटित करके भूमि के उपर लाने वाला कोई नहीं था।''[1] इसी हृदय–तत्व की सहज प्रतिक्रिया के स्वरूप रामेष्वरी अपनी देवरानी के बच्चों के प्रति अपनी प्रेमाभिव्यक्ति को रोक नहीं पाती है, थथा '' सहसा मनोहर अपनी बहन को मारने दौड़ा। वह खिलखिलाती हुई दौड़कर रामेष्वरी की गोद में जा गिरी। उसके पीछे–पीछे मनोहर भी दौड़ता हुआ आया और वह भी उन्हीं की गोद में जा गिरा। रामेष्वरी उस समय द्वेष भूल गयीं। उन्होंने दोनों बच्चों को उसी प्रकार हृदय से लगा लिया जिस प्रकार वह मनुष्य लगाता है, जो कि बच्चों के लिए तरस रहा हो। उन्होंने बड़ी सतृष्णता से दोनों को प्यार किया। उस समय यदि कोई अपरिचित मनुष्य उन्हें देखता, तो उसे यही विष्वास होता कि रामेष्वरी उन बच्चों की माता है।''[2] लेकिन जब–जब पति रामजीदास, रामेष्वरी को बच्चों के प्रति ऐसा ही प्रेम व्यवहार करने की सलाह देते हैं तब–तब रामेष्वरी का मस्तिष्क यही तर्क प्रस्तुत करता कि जब यह संतान उसकी अपनी कोख की उपज नहीं है, तब उसके प्रति वह लगाव कैसे रख सकती है, और इसी तर्क के कारण उसमें कठोरता का संचार हो जाता और उसके विचार अत्यंत क्रूर, जैसे '' इनके लिए ये बच्चे ही सब कुछ हैं, मैं कुछ नहीं। दुनिया मरती जाती है, पर इन दोनों को मौत नहीं। ये पेदा होते ही क्यों न मर गए। न ये होते, न मुझे यह दिन देखने पड़ते।

जिस दिन ये मरेंगे, उस दिन घी के दिए जलाऊँगी। इन्होंने ही मेरे घर का सत्यानाष कर रखा है।[1]'' बच्चों के प्रति अपने प्रेम को रोक पाना और उनके साथ कठोरता का व्यवहार करना रामेष्वरी के लिए अत्यंत कठिन हो जाता है। इसी मन की असामंजस्यता उसके अंतर्द्वन्द्व को यूँ अभिव्यंजित करती है '' इन्हें मौत भी नहीं आती। मर जाएं पाप करे। आठों पहर

आँखों के सामने रहने से प्यार को जी ललचा ही उठता है। इनके मारे कलेजा और भी जला करता है।[2]'' मनोहर के छज्जे से गिरजाने के बाद रामेष्वरी बेहोष हो जाती है और उस हालत में भी प्रलापों के रूप में उसका द्वन्द्व जारी रहता है, इस बार उसका रूझान हृदय–तत्व की ओर अधिक रहता है। होष में आने के बाद उसे जब ज्ञात होता है कि मनोहर सुरक्षित है, तभी वह द्वन्द्वमुक्त हो पाती है।

नाटक : नारी के मन और मस्तिष्क का द्वन्द्वः

''काव्येषु नाटकंम् रम्यम्'' कह कर संस्कृताचार्यों ने और '' नाटक जीवन की अनुकृति है'' (ड्रामा ईज इमिटषन ऑफ लाइफ) कहकर आंग्स समीक्षकों ने इस दृष्यात्मक साहित्यक विधा और जीवन के संबंध की घनिष्ठता को दृढ़ता के साथ निरूपित किया है। इस विधा की एक विषेषता यह है कि जीवन के विविध संदर्भों से जुड़े हुए पात्र अपने व्यक्तित्व को अपनी ही शैली में उद्घाटित करते हैं, पात्रों के व्यक्तित्व–निर्माण में रचयिता को हस्तक्षेप करने के अधिकाधिक अवसर नहीं मिलते हैं। विवेच्य विषय के विष्लेषणार्थ आधुनिक नाट्य साहित्य को उसकी संपूर्णता में स्थानाभाव के कारण ग्रहण करना अत्यंत कठिन होने के कारण इस अनुखण्ड में उल्लेखनीय प्रतिनिधि रचनाओं पर ही प्रकाष डाला जा रहा है।

क्योंकि नाटक साहित्य में नारी का अंतर्द्वन्द्व अलग से एक संपूर्ण शोध का विषय हो सकता है।

द्विवेदी युग को नाट्य विधा के लिए ह्रासात्मक युग ही माना जाता है क्यांकि इस युग में उच्चकोटि के साहित्यक नाटकों का प्रणयन बहुत कम ही हुआ। इसका मुख्य कारण जनता का रूझान मनोरंजन प्रधान पारसी नाट्य मंडलियों की ओर रहा। इने–गिने नाटक जो भी लिखे गए।

उनमें उपदेषात्मकता के बोझ के नीचे विषुद्ध एवं यथार्थवरक चरित्र का अंष दब–सा गया। पारसी नाट्य मंच पर नारी का जो चरित्र उभर कर आया, उसमें अयथार्थ और चौंकाने वाले तत्वों का प्राधान्य रहा इसलिए इस युग में भी नाटककारों की लेखनी नारी के अंतस के उथल–पुथल को रूपायित करने में अक्षम ही रही।

नाटक साहित्य के इतिहास में प्रसाद युग को पूर्णोत्कर्ष काल की संज्ञा दी जा सकती है, जिन्होंने महाभारत के उत्तरार्ध के कालखण्ड से लेकर बारहवीं सदी तक के गरिमामय भारतीय इतिहास और सांस्कृतिक उत्थान–पतन को अपने नाट्य साहित्य का वस्तु–पक्ष बनाया। राष्ट्रीय–स्वाधीनता, प्रेम, आत्मोत्सर्ग, बाह्य एवं अंतर्द्वन्द्व, नियतिवाद, प्रकृति के वैविध्यपूर्ण रूप ये सब प्रसाद के अत्यंत प्रिय विषय हैं, जो उनके नाट्य साहित्य को सुगुढ़ आधार प्रस्तुत करते हैं। प्रसाद ने अपने नाटकों में परिवेष के अनुरूप

समस्त संभवनीय नारी चरित्रों का निर्माण बड़ी सजीवता के साथ किया है, जहाँ उनके नाटकों में हमें मालविका जैसी कुसुम कोमल कमनीय नारी लक्षित होती है।

वहीं क्रूरता और विद्रुपता की प्रतिमूर्ति छलना भी। प्रसाद के नाटकों में पुरूष पात्रों की अपेक्षा नारी पात्रों को प्राप्त महत्व को देखते हुए ऐसा कहा जाता है कि प्रसाद जी के पुरूष पात्रों की अपेक्षा स्त्री पात्र अधिक सफल और सज्जन तथा सजीव है। नाटक के सूत्र उनके द्वारा ही यथार्थ नाटकत्व ग्रहण करते हैं वे पुरूष पात्रों को मन चाहा नाच–नचाती है। प्रसाद जी के नाटक स्त्रीत्व प्रधान हैं।'' '' चन्द्रगुप्त '' को छोड़ कर शेष के लिए यह कथन ठीक है। जो तेज '' अजातषत्रु '' की छलना में और मल्लिका में है।

'' राज्य श्री '' की राज्य श्री में है, '' स्कन्दगुप्त '' की अनन्तदेवी, देवसेना और विजया में है, वह पुरूषों में नहीं मिलता। पुरूष हारे–हारे से और व्यग्र से लगते हैं। कुछ नाटकों का तो मूल–संघर्ष स्त्री–प्रतिस्पर्धा में ही है।''1 स्पष्ट है कि प्रसाद ने नारी के आदर्षपूर्ण रूप चित्रण को ही उनके चरित्र निर्माण का आधार नहीं बनाया, प्रत्युत उनके जीवन में भी बड़ी–बड़ी समस्याओं और संघर्ष की स्थितियों को उत्पन्न कर उनके संयम और शक्ति का भी जीवंत परिचय दिया है। प्रसाद के नारी पात्रों में विद्यमान इस संघर्षी चेतना के बार में डॉ. प्रेमलता अग्रवाल का कथन है प्रसाद जी के नायिकाओं में संकल्प शक्ति उच्चतम विकसित रूप में विद्यमान है। उनकी नायिकायें अत्यधिक भावुक एवं कल्पनाशील है। उनमें तीव्र जिज्ञासा एवं रहस्य विद्यमान है। वे जटिल एवं गम्भीर हैं।

उनमें बाह्य एवं आंतरिक अंतर्द्वन्द्व विद्यमान है जिससे जूझती हुई वे अपना स्वतंत्र मार्ग चयन करती है।''1 कहना न होगा कि प्रसाद ने अंतर्द्वन्द्व को अपने नाटकों के नारी पात्रों के व्यक्तित्व का एक अनिवार्य अंग सा बना दिया। उनके नारी पात्रों में विवेच्य विषय मन और मस्तिष्क का द्वन्द्व प्रकारान्तर से प्रेम और कर्तव्य के द्वन्द्व के रूप में ही चित्रित हुआ है। यहाँ उनके नाटकों में द्वन्द्वग्रस्त नारी पात्रों की कतिपय उक्तियाँ प्रस्तुत की जा रहीं हैं, जो उनके आंतरिक संघर्ष को घोतित करती हैं।

उपसंहार

जीवन की अनुकृति समझी जाने वाली नाट्य–विधा में भी मन–मस्तिष्क का द्वन्द्व संबंध संदर्भों में प्रभावपूर्णता के साथ वर्णित हुआ है। स्वतंत्रता पूर्ववर्ती कालखण्ड में नाट्यविधा को सुसंपन्न करने वाले प्रसाद के अत्यंत रूचिकर विषयों में अंतर्द्वन्द्व प्रमुख है, जो उनके अधिकांष नारी–प्रधान नाटकों में एक अनिवार्य तत्व के रूप में उभरा है। प्रसाद ने अपने नारी–पात्रों में उसके स्वभाव की समस्त संभावनाओं को अत्यंत सूक्ष्मता के साथ प्रस्तुत किया है, इसीलिए उनके

नारी पात्रों के अंतर्द्वन्द्व की परिणति भी समस्त संभावनाओं से संबंध है, यथा मागन्धी का बौद्ध–धर्म में प्रवर्तन, देवसेना का अविवाहित रह जाना, कल्याणी का आत्मघात और धृवस्वामिनी का चन्द्रगुप्त के साथ पुनर्विवाह। इन प्रतिक्रियाओं में कहीं अस्मिता का बोध है, तो कहीं जीवन के प्रति समझौतापरक दृष्टिाकोण कहीं निराषा है, तो कहीं विद्रोह जो भी हो अयथार्थ कुछ भी नहीं है।

उपन्यासों का इतिवृत्त जब स्थूल सामाजिक न होकर सूक्ष्म मानसिक हो जाता है, तब लेखकीय प्रतिबद्धता कहीं अधिक चुनौतीपूर्ण हो जाती है इसलिए नारी के मन–मस्तिष्क के द्वन्द्व के चित्र प्रस्तुत करते समय उपन्यासकारों ने ऐसा उपक्रम किया कि वे अपने नारी–पात्रों को संघर्ष की स्थिति से पूरी शक्ति के साथ उबार सकें और उन पात्रों को परिपूर्ण सिद्ध करने के साथ–साथ उन्हें पाठकीय संवेदना भी प्राप्त करा सकें। इसके लिए इन उपन्यासकारों ने क्रमागत नैतिक मूल्यों, मानवीय संबंधों की नयी व्याख्या तक कर डाली। इस प्रयत्न में उपन्यासकारों की कलम की राह में जो वैयक्तिक और सामाजिक तत्व अड़चन से प्रतीत हुए, उनका उन्होंने या तो उपहास कर दिया या उच्छेइन। कोई भी उपन्यासकार क्यों न यह कहे कि वह अपने पात्रों का सर्जक मात्र है। वह न उनके व्यवहार में न ही उनके व्यक्तित्व–विकास में किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप करता है, फिर भी यथार्थ स्थिति यह है कि उपन्यासकार अपने पात्रों के माध्यम गंतव्य तक पहुँचने के लिए पात्रों को घटनाओं का ऐसा संबल प्रदान करता है। कि पात्र कुछ ऐसे कर बैठने के लिए विवष हो जाते हैं जो संवेदनषील पाठकीय दृष्टि में अषास्त्रीय, अव्यवहारिक, असामाजिक, अनैतिक और अभद्र हो। मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में विवाहिता नारियों का अन्य पुरूष से प्रेम करना, उसके साथ दैहिक संबंध स्थापित करना अथवा पति द्वारा ही ऐसे कार्यों के लिए पत्नि को प्रेरित किया जाना नारी पात्रों की सबसे बड़ी त्रासदी है। ऐसी त्रासदायक परिस्थितियों के केन्द्र में रहने के लिए विवष नारी के मन–मस्तिष्क के द्वन्द्व की परिणति कहीं जीवन से समझौते में है, तो कहीं विद्रोह में और कहीं आत्मघात में भी। उपन्यासकारों ने विवाहिता–नारी के द्वारा दाम्पत्येतर संबंधों की स्थापना करने के कारणों के स्पष्टीकरण में नारी के व्यवहार को पुरूष के प्रति उठाये गये प्रतिषोधात्मक कदम के रूप में करार दिया। जैनेन्द्र प्रणीत '' सुखदा '' और '' व्यतीत '' की सुखदा तथा अनिता के दाम्पत्येत्तर संबंधी के संदर्भ में क्रमषः अपेक्षित सुखमय जीवन की अप्राप्ति और यौन अतृप्ति की भावना के साथ–साथ पति द्वारा यथोचित रूपेणा शासित न हो पाने की और प्रेमी की जीवन संगिनी न बन सकने के कारण उत्पन्न कुंठित मानसिकता प्रतिकृत होते लक्षित होते हैं। पुरूष की ही प्रेरणा से ही नारी जब अपने व्यक्तित्व में बुद्धि–तत्व को उन्मीलित कर उसी पुरूष को चुनौती देने लगती है, तब पुरूष के लिए नारी

की वह चुनौती और उसके आधार–भूत तर्क पुरूष को असामान्य और अपज से प्रतीत होने लगते हैं। इस स्थिति में वह नारी की अपेक्षा अपनी उत्कृष्टता को सिद्ध करने के लिए जो शोषण के नये उपाय और प्रपंच अपनाता है, उनसे पराजिता नारी पुरूष–षोषण और अंतर्द्वन्द्व की दोहरी मार से मुक्ति–हेतु हृदय–तत्व की ओर ही लौट आती है। अंधेरे बन्द कमरे की नीलिमा के अनेकों बार विद्रोह करने की विफल चेष्टा और डूबनेमस्तूल की रंजना का अनेकों पुरूषों से जुड़कर भी जीवन के प्रति निर्लिप्त रह जाने की प्रतिक्रिया इसी तथ्य से परिणाम है। तर्क–बुद्धि की अपरिपक्वता नारी में जो अतिशय आत्म–विष्वास को जगाता है वह उसके अंतर्द्वन्द्व के मूल कारणों का एक आधार है, क्योंकि इसी अतिषय आत्मविष्वास के बल पर वह अपने परिवेष में विद्यमान पुरूष पुरूष का गलत मूल्यांकन कर बैठती है, परिणामतः उसे कटु और निराषापूर्ण अनुभवों से गुजरना पड़ता है। राजेन्द्रयादव के उपन्यास '' शह और मात '' की सुजाता इसी तथ्य को साकार करती है। दैहिक बुभुक्षा की तृप्ति पुरूष मात्र की ही अवष्यकता नहीं है, लेकिन इस संदर्भ में नारी और पुरूष की भावनाओं में धरती–आकाष का अंतर है। पुरूष जहाँ अपनी भोगवादी प्रवृत्ति के कारण अन्य नारियों से संबंध स्थापित करने को अनुचित नहीं मानता है, वहीं एक भारतीय नारी पति से दैहिक धरातल पर तृप्त रहकर भी दाम्पत्येतर संबंध की कल्पनातक नहीं कर सकती है लेकिन उपन्यासों में कतिपय नारियों द्वारा इस संदर्भ में उठाये गये विद्रोहात्मक कदम के उपरांत भी उन्हें अपेक्षित सुख और शांति मिल नहीं पाये हैं, जिसका मूल कारण उसके हृदय में विद्यमान पापानुभूति की चेतना ही है। सुखदा की '' सुखदा '' दो एकांत की '' वानीरा'' पथ की खोज की '' साधना '' जैसी कुछ नारी–पात्री इसी तथ्य की पुष्टी करती है। इस संदर्भ में मात्र दैहिक स्तर पर अपनी अतृप्ति को तृप्त करने के लिए '' व्यतीत '' की चन्द्री द्वारा उठाया गया कदम एक अपवाद–सा प्रतीत होता है। प्रेम की अभिव्यक्ति का मानसिक माध्यम भावना है, तो दैहिक माध्यम काम है, जिसका आधार निर्द्वन्द्वतः बाह्य–सौन्दर्य ही है। काम के संदर्भ में नारी जहाँ पुरूष की शारीरिक शक्ति से संतुष्टि पाती है, वहीं पुरूष, नारी के त्वचा–सौंदर्य से आकर्षित होता है और कहना न होगा कि इस भौतिक–सौंदर्य से वंचित नारियों को पुरूष का प्रेम ही नहीं प्रत्युत यौन–संग भी अप्राप्य हो जाते हैं। कटु यथार्थ की गहराई का तथ्य तो यह भी है कि ऐसी असुन्दर नारियों के साथ यदा–कदा कोई पुरूष अपनी दैहिक बुभुक्षा को शांत तो कर लेता है, परन्तु उसके साथ विवाह रचकर उसे हार्दिक–प्रेम देता नहीं है। इस यथार्थ से परिचिता किसी असुंदर आधुनिका के मन में निराषा और कुंठा ही पर कर जाते हैं और स्थिति विषेष के अनुरूप वह द्वन्द्व–ग्रस्त भी हो जाती है, जिसकी परिणति आत्म–संपीड़न अथवा आत्मघात में होती है। अनदेखे अनजान पुल की ''

निन्नी '' अजय की डायरी की '' दीपिका '' इसी आत्महीनता की भावना से त्रस्त हैं।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची:-

1. कुलटा– राजेन्द्र यादव – अक्षर प्रकाशन प्रा.लि. दिल्ली–1, 1969
2. कृष्णकली – शिवानी – भारतीय ज्ञापपीठ प्रकाशन, वाराणासी – सं. 1969
3. कड़ियाँ – भीष्म साहनी – राजकमल प्रकाशन, दिल्ली – 1970
4. आपका बंटी – मन्नू भंडारी – अक्षर प्रकाशन प्रा.लि. नयी दिल्ली – 1971
5. काँचघर – रामकुमार भ्रंमर – राजपाल एण्ड सन्स – दिल्ली – 1971
6. अंतराल– मोहन राकेश – राजकमल प्रकाशन, दिल्ली – सं. 1972
7. सूरजमुखी अंधेरे के–कृष्ण सोबती – राजकमल प्रकाशन, दिल्ली – सं. 1972
8. दोहरी आग की लपट – डॉ. देवराज, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली – सं. 1973
9. दूरियाँ – रजनी पनिकर – मैकगिलन कं. ऑफ इंडिया, दिल्ली – 1974
10. प्रेम अपवित्र नदी – लक्ष्मीनारायण लाल, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली–सं. 1974
11. बात एक औरत की – कृष्णा अग्निहोत्री – चिन्मय प्रकाशन, जयपुर –सं. 1974
12. सीढ़ियाँ – शशिप्रभा शास़ी – नेशनल पब्लिशिंग, नयी दिल्ली – सं. 1974
13. सुखदा – जैनेन्द्र कुमार – पूर्वोदय, नयी दिल्ली – सं. 1975
14. मेरी, तेरी उसकी बात – यशपाल – सं. 1975
15- वे दिन – निर्मल वर्मा – राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली – 1976